विषय	हिंदी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	**P2: मध्यकालीन कविता -1**
इकाई सं. एवं शीर्षक	**M12: सिद्ध साहित्य**
इकाई टैग	**HND_P2_M12**

निर्माता समूह	
प्रमुख अन्वेषक	**प्रो. गिरीश्वर मिश्र** कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : misragirishwar@gmail.com
प्रश्नपत्र समन्वयक	**प्रो. कृष्ण कुमार सिंह** प्रोफेसर, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : kks5260@gmail.com
इकाई लेखक	**प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी** प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ईमेल : deepak.hindi@gmail.com
इकाई समीक्षक	**प्रो. कृष्ण कुमार सिंह** प्रोफेसर, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : kks5260@gmail.com
भाषा संपादक	**प्रो. कृष्ण कुमार सिंह** प्रोफेसर, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : kks5260@gmail.com

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. सिद्ध साहित्य: आधार सामग्री
4. काल परिधि
5. सिद्ध साहित्य: सिद्धांत पक्ष
6. काव्य पक्ष
7. शैली
8. निष्कर्ष

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरांत आप -

- आदिकालीन साहित्य में सिद्ध साहित्य की भूमिका को समझ सकेंगे।
- सिद्ध साहित्य के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सिद्ध रचनाकारों की धार्मिक अनुभूतियों के साथ-साथ ही उनकी साहित्यिक अनुभूतियों से परिचित हो सकेंगे, और
- साहित्य के इतिहास के संदर्भ में सिद्ध साहित्य की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

2. प्रस्तावना

सिद्ध साहित्य से तात्पर्य वज्रयानी परम्परा के उन चौरासी सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जो अपभ्रंश, दोहों तथा चर्यापदों के रूप में है और जिसमें तात्विक स्तर पर बौद्ध तान्त्रिक सिद्धांतों को मान्यता दी गयी है। कुछ विद्वानों ने इन्हीं सिद्धों के समकालीन शैवमार्गी नाथ योगियों को भी सिद्ध स्वीकार किया है, किंतु हिंदी में इनके लिए 'नाथ' शब्द प्रचलित है और इनका साहित्य सिद्धों के साहित्य की आलोचना भी है और इनके आगे की यात्रा भी। बहरहाल हिंदी कविता का प्रारंभिक प्रारूप भारत में सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। इन चौरासी सिद्धों को अष्टमहासिद्धियाँ प्राप्त थीं, जो अजर-अमर माने जाते थे तथा इनकी गणना अतिमानव अर्द्धदेवताओं में होती थी। मध्यकालीन कवि जायसी ने तो इनका उल्लेख अमर पुरुष के रूप में किया है-

नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध।
आज महारन-भारथ चले गगन, गरुड़ औ गिद्ध।।

ये सिद्ध केवल कल्पनामात्र नहीं है, बल्कि इनका ऐतिहासिक महत्व है। तंत्र साधना में 84 संख्या के गूढ़ तांत्रिक अभिप्राय भी हैं विदेशी विद्वान टुची इस संख्या को बारह राशि तथा सात ग्रहों का गुणनफल मानते हैं, किंतु अनेक अनुसंधान कत्र्ताओं ने चौरासी सिद्धों की उपस्थिति को स्वीकार किया है। इन चौरासी सिद्धों में- लुईपा, लीलापा, विरूपा, डोम्बिया, शबरपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगिपा, वीणापा, शान्तिपा, तंत्रिपा, चमारिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन चौरासी सिद्धों में अनेक ऐसे नाम भी हैं, जो शैव साधना पद्धति एवं नाथ साधना से भी जुड़े हैं, इसका कारण तत्कालीन समय में उनकी स्वीकृति थी एवं अन्य साधना पद्धतियों से उनका जुड़ाव भी था। जैसे मत्स्येन्द्र, जालन्धर तथा काण्ह में मत्स्येन्द्र, जालन्धर शैव थे, किंतु बौद्ध साधना पद्धति में भी उनका सम्मान था। इसके साथ ही तत्कालीन सांप्रदायिक स्थिति भी एक बड़ा कारण था, जिसके फलस्वरूप वैष्णवों के विरोध में शैव एवं बौद्ध संप्रदाय का संयुक्त शिविर स्थापित होने के कारण एक-दूसरे की साधना पद्धतियों को आत्मसात करने की परंपरा भी विकसित हो चली थी। कुछ सिद्ध तो बाद में विधिवत नाथ सम्प्रदाय में भी दीक्षित हो गये थे, इसीलिए 84 सिद्धों में अनेक बाद में बौद्ध प्रभावों को छोड़कर शैव साधक हो गये। इस प्रसंग में विचारणीय है कि आदिसिद्ध कौन है? अनेक परंपराएं लुइपा को आदिसिद्ध मानती हैं किंतु राहुल जी ने सरहपा को आदिसिद्ध स्वीकार किया है, इसका कारण ऐतिहासिक कालक्रम नहीं, बल्कि सांप्रदायिक महत्व है। सरहपा के पहले भी तांत्रिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, किंतु उन्होंने बौद्ध तंत्रों को सुगठित रूप देते हुए संप्रदाय का प्रवर्तन किया, अतिष्ठित किया।

3. सिद्ध साहित्य: आधार सामग्री

सिद्धों की रचनाएँ दो रूपों में मिलती हैं- दोहाकोष तथा चर्यापद। दोहाकोष दोहों से युक्त चतुष्पदियों की कड़वक शैली है और धर्मवीर भारती के अनुसार तो कुछ दोहे टीकाओं में उद्धृत हैं और कुछ दोहागीतियाँ बौद्ध तंत्रों तथा साधनाओं में मिली हैं। जहाँ तक चर्यापदों का प्रश्न है, वे बौद्ध तांत्रिक चर्या के समय गाये जाने वाले ऐसे पद हैं, जो अनेक सिद्धाचार्यों द्वारा रचित हैं, किंतु एक साथ संकलित हैं। दोहाकोष में कण्हपा का दोहाकोष महत्वपूर्ण है। इसमें 32 छंद मिलते हैं, जिनमें 27 दोहे हैं और केवल 5 समचतुष्पदियाँ है। इसके अतिरिक्त तिलोपा का दोहाकोष, सरहपा का दोहाकोष भी सिद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। सरहपा का एक दोहाकोष 112 छंदों में है तो दो अन्य खण्डित हैं। सरहपा के स्फुट दोहों का एक संपादित अंश भी उपलब्ध है। अपभ्रंश दोहागीति भी उपलब्ध है, जिसमें गुह्यसाधना में प्रयुक्त होने वाले 4 दोहे हैं, किंतु सिद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए इसका महत्व कम नहीं है। डॉ. सुकुमार सेन इन दोहागीतियों को वज्रगीत कहते हैं और इन्हें अपौरुषेय मानते हैं। इसी कड़ी में चर्यापद भी उल्लेखनीय है।

4. काल परिधि

जहाँ तक सिद्ध साहित्य के कालक्रम का प्रश्न है इस संबंध में मतवैभिन्य है, क्योंकि अन्तर्साक्ष्य का सर्वथा अभाव होने के कारण बहिर्साक्ष्य के आधार पर जो तथ्य सामने है, वह अत्यन्त भ्रमात्मक, एकांगी, कल्पनारंजित, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि सिद्ध परंपरा अधिक से अधिक दो या तीन शतियों की परिधि के भीतर ही है और उसमें भी अधिकांश सिद्ध समकालीन हैं। धर्मवीर भारती ने अनेक मत-मतान्तरों के विश्लेषण के बाद निम्नलिखित सीमा का निर्धारण किया है, जो युक्तिसंगत है-

लगभग 800 ई. से 875 ई. - सरहपा, शबरपा, लुईपा तथा समकालीन सिद्ध
लगभग 875 ई. से 925 ई - मत्स्येंद्र नाथ तथा उनके समकालीन मीनपा आदि
लगभग 925 ई. से 1000 ई. - गोरख, जालन्धरी, कण्हपा तथा समकालीन
लगभग 1000 ई. से 1100 ई. - तिलोपा, नारोपा, मैत्रीया तथा समकालीन।

5. सिद्ध साहित्य: सिद्धांत पक्ष

(क) तत्व चिंतन: सिद्ध विज्ञानवाद में विश्वास करने के कारण चित्त की सत्ता स्वीकार करते हुए संसार को चित्त की ही भांति मानते थे। उनकी दृष्टि में संसार का अस्तित्व बाह्य न होकर चित्तगत है। तिलोपा ने स्पष्ट कहा है कि -

एहुसे अप्पा एहु जगु जो परिभावइ,
णिम्मल चित्त सहाव सोकि बुज्झइ, - बागची दोहाकोष, पृ. 5

अर्थात् निर्मल चित्त स्वभाव से देखने पर यही परिभावना होती है कि जो आत्मा है वही जगत है, तथा आत्म का भेद केवल भ्रान्ति मात्र है। सरहपा भी अद्वय स्थिति को स्वीकार करने का आग्रह करते हैं-

जिम बाहिर तिन अम्भ-तरू, चउदह भुवणे ठिअउ निरन्तरू - बागची दोहाकोष, पृ. 635

इसीलिए सिद्ध संसार को स्कन्ध, भूत, आयतन और इन्द्रियों द्वारा निर्मित मानते हैं जो सहज स्वभाव से बांधे जा

सकते हैं। संसार की प्रकृति आभ्यन्तरिक है और चित्त ही बीज तत्व है, भव का भी और निर्वाण का भी; किंतु सहज परमतत्व है।

(ख) चित्त-विशोधन एवं देह का महत्व

सरहपा चित्त जैसे अनेक सिद्ध को महासुख द्वारा शोधनीय मानते हुए राग का शुद्ध रूप पहचानने का आग्रह करते हैं। इसीलिए सिद्ध मार्ग में मन की वृत्तियों को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्यमय निवृत्तिमय साधना का उपदेश नहीं है, बल्कि जीवन के स्वीकार की स्वीकृति है। सांसारिक राग के परित्याग का उपदेश दिया, किंतु निवृत्तिमूलक, निषेधात्मक, निराशावादी विराग के परित्याग का भी उपदेश देकर राग के स्वरूप को पहचानने पर बल दिया। सिद्धों के यहाँ सांसारिक राग भी त्याज्य है तो विराग का परित्याग भी आवश्यक है, किंतु राग का शुद्ध रूप मोक्ष का कारण है। सिद्ध कण्हपा ने राग के महत्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि वह राग उस तरुणी महामुद्रा ज्ञानरूपी प्रज्ञा के प्रति स्नेह के रूप में है उसके बिना इस जन्म में तो बोधि की उपलब्धि नहीं हो सकती और न बोधिचित्त की साधना हो सकती है, क्योंकि बोधिचित्त करुणा और शून्यता के अद्वय से सिद्धि होता है और राग ही करुणा है और कण्हपा की मानें तो यदि राग नहीं है तो केवल शून्यताज्ञान कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार सिद्धों ने राग को राग से ही परिशमित करने का प्रयास किया, और यही उनके जीवन दर्शन का मूल है। राग की स्वीकृति के कारण ही सिद्धों ने काया के महत्व को स्वीकार किया है। सरहपा कहते हैं कि यही देह सुरसरि है, यमुना है, यही गंगासागर, यही प्रयाग, वाराणसी, चन्द्र, दिवाकर, धर्मक्षेत्र, पीठ, उपपीठ सभी यही है। मूर्ख! तू कहाँ-कहाँ घूमता-फिरता है। देह के समान सुख प्रदान करने वाला तीर्थ और कहीं नही है। इसीलिए सिद्धों ने कामरूप, पूर्णगिरि, जालंधर और ओडियान आदि पांचों प्रख्यात तंत्र पीठों का स्थान शरीर में ही बताया गया है। (योगसार)

(ग) अन्तर्साधना की भक्ति एवं गुरु का महत्त्व

सिद्धों की पद्धति प्रज्ञोपाय योग की पद्धति है, इसीलिए वाह्य अनुष्ठानों को स्वीकार करते हुए भी अन्तर्साधना या चित्त की साधना पर विशेष बल देते हैं। उन्होंने तत्त्वज्ञान के बिना की जाने वाली क्रिया और चर्चा को निष्फल माना है और इसी अर्थ में सांकेतिक अर्थ से विहीन अपनी पद्धति एवं अन्य संप्रदायों के अनुष्ठानों का विरोध किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है कि 'सिद्धों ने इस समस्त क्रिया और चर्या साधना के मंत्र, तंत्र, देवपूजा आदि का प्रबल विरोध कर केवल सहज-जीवन-पद्धति पर विशेष आग्रह किया।' (कबीर, पृ.25) इस प्रकार सिद्धों ने अन्तर्साधना की भक्ति के द्वारा साधना के क्षेत्र में प्रचलित आडम्बरों का विरोध किया, किंतु इसके लिए गुरु के प्रति अपनी अटल भक्ति का प्रमाण भी दिया। तिलोपा कहते हैं कि समस्त लोक तथा पण्डितों के लिए भी परमतत्व अगोचर हैं, किंतु गुरु के प्रसन्न होने पर कौन ऐसी वस्तु है जो अगम रह जाय। सरहपा भी सदगुरु के वचनों से ही परम गुह्य सत्य का स्फुट रूप से प्रतिभासित होना मानते हैं क्योंकि-

- गुरु जगत्प्रवाह में बहते साधक को निरुद्ध कर लेता है।
- जो तत्व शिष्य अपनी अज्ञानता के कारण नहीं ग्रहण कर पाता है वह गुरु की प्रसन्नता से सहज में ही प्राप्त हो जाता है।
- साधना में गुरु के वचन पतवार की तरह हैं जो शिष्य की साधना का निर्देशन करता है।
- वज्ररूपी कुठार से भवरूपी वृक्ष का उन्मूलन गुरु के संसर्ग से होता है।

इसीलिए सिद्धों ने गुरु का नाम आदर से लेते हुए उन्हें 'वरगुरुपाद' तथा 'श्री गुरुनाथ' जैसे नामों से याद किया किंतु

गौरतलब है कि गुरु के प्रति इस अटल भक्ति का कारण तंत्र साधना है, क्योंकि बौद्ध परंपरा में संघ का महत्व है, गुरु का नहीं। सरहपा तो यहाँ तक लिखते हैं-

जाव ण अप्पा जाणिज्जई ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धे अन्ध कढ़ावइ तिय वेण्ण वि कूप पड़ेइ।

(घ) महासुख - सिद्धों की साधना में महासुख की कामना है। 'ज्ञान के क्षेत्र में जो सहज या अनुत्तर ज्ञान है, अनुभूति के क्षेत्र में वही महासुख सहजानन्द, सहज सुख या समसुख है जो कि प्रज्ञा और उपाय के समान युगनद्ध से प्राप्त होता है। प्रज्ञा एवं उपाय का युग्म दशा ही सहज है, यही प्रज्ञोपाय यह समरसता की अनुभूति है, समसुख, महासुख है, यह ऐसी अनुभूति है, जिसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती, यह प्रज्ञा और उपाय के समान युगनद्ध से प्राप्त होता है। तिलोपा इसे समरस कहते हैं जो गृहिणी महामुद्रा के प्रगाढ़ स्नेह से प्राप्त होता है-

सुण्ण करुण तहि समरस इच्छह
तिलोपा, बागची दोहाकोष
तत्वें समरस सहजें वज्जइ णउ सुद्द ण वह्मण

यह समरस है, सहजानन्द है, न घटता है, न वह श्रवण से सुन पड़ता है, न नयन से दीख पड़ता है, न पवन उसे हिला पाता है, न अग्नि उसे जला पाती है अर्थात् वह उपनिषदों के नेतिपरक ब्रह्म होते हुए भी परम महासुख है, सहजामृत है।

समग्रत: सिद्धों की साधना का लक्ष्य ज्ञान नहीं, अनुभूति है। बौद्धों के निवृत्तिमूलक दुःखवादी रूप का निराकरण कर सुख, आनन्द, भावना और भोग की तात्विक प्रतिष्ठा करना उनकी साहित्य-साधना का मुख्य उद्देश्य था। 'वह जीवन जो कि सहज है, प्रवृत्तिमूलक है, मानवीयता का निषेध नहीं करता, उसी को उन्होंने अपने ढंग से, अपनी सीमाओं के अंदर बौद्ध परंपरा में प्रतिष्ठित किया। वे सीमाएं हठयोग की दुरुहताएं थी, किंतु उनके निकट जो कुछ बचा रहता था वह लोकमानस के निकट था।' (धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ. 189) तिलोपा ने कहा है कि 'जिम विस भक्खई विसाहें पलुत्ता, तिम भव अंजुहि भवहिं ण जुत्ता' अर्थात् विष का विधानपूर्वक उपयोग करने वाला विष के प्रभाव से जैसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही भव विधानपूर्वक उपभोग करने वाला भव में लिप्त नहीं होता बल्कि मुक्त रहता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सिद्धों के साहित्य को बौद्ध धर्म की विकृत अवस्था का साहित्य माना। इतना ही नहीं शुक्ल जी ने यह भी कहा कि सिद्धों ने बौद्ध वामाचार को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया और न केवल स्वतः इस पाप पंक में गिरे वरन् जनता को भी उसमें गिराना चाहा। इसीलिए देशी भाषा में रचना की ताकि जनता पर भी उनका संस्कार पड़ सके जबकि ऐसा नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सबसे पहले सिद्ध-साहित्य के मूल्यांकन में लोकपक्ष के महत्व की ओर संकेत किया।

6. काव्य पक्ष:

सिद्धों ने जहाँ एक ओर बौद्ध परम्परा से विद्रोह किया - वहाँ बौद्ध सिद्धान्तों की नयी व्याख्या अपने देश-काल के

अनुरूप की। उन्होंने सहज की कल्पना के द्वारा पूरी बौद्ध-परम्परा की सहज व्याख्या भी की, वैरागपूर्ण अस्वाभाविक जीवन के स्थान पर महामुद्रा रूप में गृहिणी से परिणय कर गृहस्थ जीवन के समस्त भोगोपभोगों के बीच तत्वज्ञान की खोज करके जीवन मे विराग के स्थान पर राग, निवृत्ति और ज्ञान के स्थान पर अनुभूति को महत्व दिया। धर्मवीर भारती के शब्दों में इसके पीछे सिद्धों का एक स्वस्थ, सुगठित जीवन दर्शन था। वे प्रवृत्तियों के दमन को हानिकारक मानते थे, प्रवृत्तियों की स्वस्थ तृप्ति में ही जीवन का पूर्ण विकास और लौकिक जीवन के चेतन समस्त निर्वाह में ही आध्यात्मिक मूल्यों का प्रस्फुटन होता है यह उनका दृढ विश्वास था- धम्माधम सो सोहिइ खाई - सरहपा, बागची दोहा कोक्ष, पृष्ठ 23

(क) भावपक्ष: डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने चर्यापदों एवं दोहाकोष के काव्यत्व पर विचार करते हुए कहा कि 'चर्यापद वास्तविक रूप में साहित्य नहीं कहे जा सकते। उनका अभिप्राय और मर्म प्रमुखतः धार्मिक है, साहित्यिक नहीं। साहित्य के वास्तविक अर्थो में वे साहित्यिक सौन्दर्य से हीन हैं। उनका प्रमुख महत्व भाषात्मक और धार्मिक है। फिर भी कहीं -कहीं उनमें ऐसे पद मिल जाते है जिनमें असाहित्यिक वातावरण के बावजूद शुद्ध काव्य की क्षट दिख पड़ती है।' बात बहुत हद तक ठीक है, और इसी तरह का विचार भक्ति काव्य के कवियों के विषय में भी बन सकता है, किन्तु यह भी महत्वपूर्ण बात है कि इस काल के कवियों के मूल्यांकन के प्रतिमान इनकी रचनाओं से ही निर्मित हो सकते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि सिद्ध कवि साधक हैं और उनकी साधना के लिए भव से मुक्ति आवश्यक है, कितु वे संसार, जीवन, जगत के प्रश्नों पर चिंतित है और यही चिंता उनके साहित्यिक महत्व की ओर संकेत करती है। मनुष्य की मुक्ति एवं स्वाधीनता का प्रश्न, उसकी गरिमा एवं उसकी देह के महत्व की स्वीकृति जैसे विषयों पर लिखते समय वे सभ्यता समीक्षक की भूमिका में दिखाई देने के कारण साहित्यिक लगते है। उनके भाव जगत की अनेक विशेषताएं है -

(ख) विशिष्ट जीवन दर्शन: सिद्ध साहित्य का एक बड़ा योगदान यह है कि वे एक विशिष्ट जीवन दर्शन एवं आचार व्यवस्था के प्रतिपादन के द्वारा भाव जगत, अनुभूतियों, भाषा, स्वर-व्यंजन आदि की नाद-बिन्दु परम्परा पर आधारित नयी व्याख्या करते हुए लौकिक प्रश्नों के साथ अध्यात्मपरक अर्थ की खोज कर रह रहे थे, किन्तु यह अर्थ लोक से मुक्ति की और नहीं ले जा रहा था -

देहा सदासिअ तित्थ महूं सुअ अण्ण ण दिट्ठओ। (दोहाकोष)

सिद्धों ने जीवन में विराग के स्थान पर राग, निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति एवं ज्ञान पर अनुभूति की प्रतिष्ठा की।

(ग) विषय वस्तु एवं काव्यरूप : रूप को दृष्टि से सिद्धों की रचनाएं दो रूपों में मिलती है- एक गीति, दूसरा मुक्तक। चर्यापद एवं वज्रगीत गीति-काव्य है तो दोहे, अर्द्धालियाँ मुक्तक हैं! गीति भावप्रधान है एवं मुक्तक नीति प्रधान। भावपक्ष के अन्तर्गत सिद्धों ने परम्परा में प्रचलित निर्वाण भावना का तिरस्कार कर महासुख की अनुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति को प्रमुखता प्रदान की। इस अभिव्यक्ति के क्रम में सिद्धों ने आलम्बन विभाव, नायक, नायिका एवं दूती का वर्णन किया। नायिका भेद के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया, सामान्या का वर्णन किया तथा काम चेष्टा की दृष्टि से मुग्धा, मध्या एवं प्रौढ़ा का वर्णन किया। श्रृंगार के संयोग एवं वियोग के दोनों पक्षों का वर्णन किया, नायक-नायिका का रूप वर्णन भी है तो उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति चित्रण भी, किन्तु सभी के दार्शनिक आशय भी हैं। नीति पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने अपनी सामाजिक चिन्ता को व्यक्त किया।

(घ) विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति: सिद्ध साहित्य का भावात्मक अंश मुख्य तथा श्रृंगारपरक है, किंन्तु उसमें उत्साह, विस्मय, क्रोध के साथ हास्य तथा शोक के भाव की भी अभिव्यक्ति मिलती है। सिद्ध महाराग की साधना में विश्वास करते थे, महासुख की अभिव्यक्ति के लिए सचेष्ट थे, जो करुणाजन्य, उपायस्वरूप एवं प्रवृत्तिमूलक है। श्रृंगार के सम्भोग एवं विप्रलब्ध पक्षों की मार्मिक अनुभूतियाँ सिद्धों की रागचेतना का प्रमाण है। नायक-नायिका के रूप में वर्णन में सिद्धों ने प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया है, किन्तु लौकिक दृष्टि से उन्हें यथार्थ बनाने की कोशिश की है। कण्हपा का डोम्बी तथा शबरीपा का शबरी के रूप वर्णन उत्कृष्ट है।

(ड.) नीतिपक्ष: विषय वस्तु की दृष्टि से देखें तो नीतिपरक साहित्य का स्वर आत्माभिव्यक्ति का नही हैं, बल्कि उपदेशपरक है। इतना ही नहीं लौकिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता की चिन्ता यहाँ ज्यादा है। नीति पक्ष सिद्धों की धर्मसाधना का सहायक पक्ष है। इसीलिए इनका स्वर सामाजिक अनुशासनांत्मक न होकर व्यक्ति केन्द्रीयता है, क्योंकि यहाँ की साधना व्यक्तिपरक ज्यादा है। व्यक्ति को साधना पथ में अनुशासन के साथ प्रवृत्त करना इनका प्रमुख आशय है। इस तरह से विचार करें तो नीतिपरक साहित्य के तीन आयाम हैं- विवेचन, खण्डन, चेतावनी। विवेचन में उन्होंने शून्य, सहज प्रज्ञोपाय समाधि, चित्र, भवनिर्वाण, वज्रज्ञान, नैरात्म दर्शन आदि का उपदेश कभी सीधे-सीधे और कभी प्रतीकों, अप्रस्तुतों के माध्यम से दिया-

जहि मण पवण ण संचरइ रवि ससि णाह पवेस
तहि वण चित्त विसाम कुरू सरह कहिअ उएस। (दोहाकोष, पृष्ठ-20)

खण्डनात्मक पक्ष के अन्तर्गत समकालीन अन्य सम्प्रदायों का खण्डन किया है, पुराने महायान सम्प्रदाय की तंत्रेतर साधनाओं का खण्डन किया, अपने ही वज्रयान सम्प्रदाय के निरर्थक अनुष्ठानों का विरोध किया-

विसअ रमन्त ण विसअं विलिप्पई,
ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ। (सरहपा, दोहा कोष्ट, पृष्ठ-29)

चेतावनी के अन्तर्गत उन्होंने स्थान-स्थान पर साधक को बाह्याचार का परित्याग कर आन्तरिक मर्म एवं चित्र की दृढ़ता के महत्व की ओर संकेत किया -

देहा सरसिअ तित्थ मइं सुह अण्ण ण दिट्ठओ।

7. शैली

सिद्धों की भाषा का स्वभाव अलौकिक, रहस्यात्मक एवं गुह्य होने के कारण मंत्र-प्रकृति की है। इसीलिए इनकी भाषा सन्ध्या भाषा है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने कहा कि सन्ध्या का अर्थ है- आलो-आन्धारी-भाषा या धूप छाँही शैली जिसके बाहय अर्थ कुछ और हों और आन्तरिक अर्थ कुछ और। गूढ़ार्थ स्वभाव के कारण सिद्धों ने प्रतीकों का आश्रय लिया। गौरतलब है कि सिद्धों ने प्रतीक योजना के निर्वाह के लिए अप्रस्तुत एवं उपमान विज्ञानवादी दर्शन एवं योगाचार की साधनाओं से ग्रहण किया, इसीलिए कुछ प्रतीक चमत्कारमूलक हैं तो कुछ चर्यागित औपम्यमूलक एवं विरोधमूलक प्रतीकों का सृजन सिद्ध साहित्य का सौन्दर्य है। अन्धा व्यक्ति (अज्ञानी गुरु या श्रद्धाहीन शिष्य),

उड्डीयान (देहस्थ पीठ), कामरूप (देहस्थ पीठ), गंगा (शक्ति या इडा), यमुना (पिंगला), संगम (सुषुम्णा), योगिनी (महामुद्रा, सुरति), सास (सुषुम्ना, श्वास, माया), ननद (वासनया), साली (श्वासनिरोध या सृष्टि जाल) आदि प्रतीक महत्वपूर्ण है। जैसे काया, चित्र, सृष्टि सहज तत्व के लिए तरुवर प्रतीक का प्रयोग हुआ है-

काया तरुवर पंचविडाल (चर्यापद)

दोहों और चर्यापदों की भाषा को लेकर विवाद की स्थिति है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, विनयतोष भट्टाचार्य उसे पुरानी बँगला मानते हैं, आर्तवल्लभ महन्ती उड़िया मानते है। काशीप्रसाद जायसवाल एवं राहुल सांकृत्यायन सिद्धों की भाषा को मगही एवं मैथिली के निकट मानते है, किन्तु इनकी भाषा पूर्वी है। जहाँ तक छन्द का प्रश्न है दोहा मुख्य छन्द है, किन्तु सोरठा, उल्लाला, मर हट्टा, अडिल्ला आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है।

8. निष्कर्ष

सिद्धों ने अपनी रचनाओं में अपने समय के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करते हुए प्रतिरोध का पक्ष सामने रखा। यद्यपि कि उनके यहाँ तंत्र-मंत्र और पाखंड है, फिर भी उनका साहित्य लोकमत का वाहक है। यह ऐसा लोकमत है जहाँ सांप्रदायिक विसंगतियों के बावजूद तर्क एवं विचारशीलता है। सिद्ध साहित्य का महत्व अपने समय के महत्वपूर्ण यथार्थ के उद्घाटन में है तो नाथ एवं सन्त साहित्य के निर्माण में भी। नाथों एवं सन्तों ने योगाचार, शब्द परम्परा, साधना पद्धति के साथ-साथ भाव, शैली, राग, भाषा एवं छन्द के स्तर पर सिद्धों से प्रभाव ग्रहण किया है।

इस प्रकार सिद्धों ने जहाँ एक ओर विषयासक्तियों का निरोध किया, वहीं साधना को प्रवृतिमूलक अर्थ देकर लोकजीवन की प्रतिष्ठा की। भीतर और बाहर में अव्दय स्थापित करना ही उनकी साधना का लक्ष्य है, चित्र की विशुद्धता का समर्थन है तो अब के उपयोग की स्वीकृति थी, इसलिए आम मनुष्य, स्त्री-शूद्र सभी साधना से जुडे, यह खुले मन की मुक्त साधना की भूमि है, बाह्य तंत्र मंत्र का विरोध है तो निरर्थक आचार, बन्धनों और कर्मकाण्डों के विधानों का निषेध भी: परम्परागत पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा जीवन की भावात्मक अनुभूतियों की स्वीकृति है किन्तु उनकी यह सीमाओं भीथी, ये वे सीमाए थी, जो तत्कालीन तांत्रिक परिवेश की देन थी। तप साधना की स्वीकृति के कारण उनमें जहाँ लोकजीवन के स्वस्थ पक्ष थे, वहीं अंधविश्वास, चमत्कारवाद के हानिकर तत्व भी जिन्होंने उनकी परम्परा को जर्जर बना दिया!